www.researchvidyapith.com ISSN (Online): 3048-7331

Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal

(International Open Access, Peer-reviewed & Refereed Journal)

(Multidisciplinary, Monthly, Multilanguage)

* Vol-2* *Issue-5* *May 2025*

वर्तमान में आचरणीय धर्म का वास्तविक स्वरूप

डॉ0 वन्दना

असि० प्रोफेसर (संस्कृत), फ०अ०अ० राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महमूदाबाद, सीतापुर

हमारे राष्ट्र भारत की सर्वत्र प्रतिष्ठा है। इसकी प्रतिष्ठा के दो हेतु हैं– ''भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिश्च।'' वस्तुतः संस्कृत भाषा एवं भारतीय संस्कृति ही ऐसे दो हेतु हैं जो अपने दिव्य आलोक से समस्त जगत् को प्रकाशित करते हैं। संस्कृति नितान्त मानवीय और सार्वभौम है। हम कह सकते हैं कि मानवीय गरिमा के अनुरूप उच्चस्तरीय श्रद्धा अथवा सद्भावना ही संस्कृति है। संसार के समस्त विद्वानों ने यह एक स्वर से स्वीकार किया है कि भारतीय संस्कृति ही सर्वाधिक प्राचीन है। यह संस्कृति प्राचीनता के साथ–साथ सर्वश्रेष्ठता को भी धारण करती है। इसकी श्रेष्ठता का हेतु आध्यात्मिक प्रधानता है। अधिकांश संस्कृतियाँ केवल आधिभौतिक विषयों के साथ–साथ प्रधानतया आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता का संबल लेकर नित्य निरन्तर प्रवहमान हो रही हैं। यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता उसकी धार्मिक भावना है, तो यहाँ धर्म का क्या स्वरूप है? धर्म से क्या आशय है?

हमारी देवसंस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरूषार्थ–चतुष्टय कहा गया है। मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिये तथा आनन्द से परिपर्णू करने के लिये मनुष्य को पुरूषार्थ–चतुष्टय की प्राप्ति अनिवार्य रूप से करनी चाहिए। मोक्ष को मानव जीवन का परम लक्ष्य बताया गया है; पर मोक्ष तक की यात्रा पूर्ण कर पाना धर्म के बिना मनुष्य के लिए संभव नहीं है।

'धर्म' शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है और 'धातु' का अर्थ है– धारण करना। सामान्य अर्थों में हम कह सकते हैं कि 'धारणाद्धर्मः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिसे धारण किया जाये वही धर्म है। पतित एवं गिरते हुये मनुष्य का आधार बनकर जो उसे धारण कर ले या बचा ले, उसे ही धर्म कहते हैं। ऋग्वेद में 'अतो धर्माणि धारयन्'[1] कहकर धर्म को धारण करने का उल्लेख किया गया है। महाभारत में भी 'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'[2] कहकर धर्म के धारणात्मक अर्थ को ग्रहण किया गया है। अर्थात् जो समाज को, जनसामान्य को धारण करे वही धर्म है। गीता के अठारहवें अध्याय के तैतींसवें श्लोक में 'धृत्या यया धारयते'[3] के द्वारा धर्म का धारण करने का अर्थ स्पष्ट होता है। 'धारण करना' को सरल भाषा में हम 'अपनाना' भी कह सकते हैं।

धर्म का अर्थ जब धारण करना है तो यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या धारण करना या अपनाना धर्म है? यहाँ धारण करने या अपनाने से तात्पर्य उन गुणों को धारण करने या अपनाने से है जिन्हें धारण कर लेने पर अथवा अपना लेने पर मनुष्य का जीवन समुन्नत होता है तथा उसका व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और पारलौकिक जीवन सुख–शांति–संतुष्टि–समृद्धि–तृप्ति और आनंद से ओतप्रोत हो कर सुगन्धित व सुवासित हो जाता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में धर्म का स्वरूप व्यापक अर्थों में बताया गया है। यथा ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर धर्म, धार्मिक विधियों या धार्मिक क्रिया संस्कारों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है–

1. ''पितुं न स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्''[4]
2. इममञ्जस्पामुभये अकृणवत धर्माणभम्निं विदथस्य साधनम्।[5]
3. त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव[6]

अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग, ''धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण''[7] के अर्थ में प्रयुक्त है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में 'धर्म' शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में धर्म की तीन शखाएँ मानी गयी हैं– 1. यज्ञ, अध्ययन एवं दान 2. तपस्या अर्थात् तापस धर्म 3. ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना। यहाँ 'धर्म'शब्द 'आश्रम' व्यवस्था की ओर संकेत कर रहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् में जो छात्रों के लिये 'धर्म' शब्द का तात्पर्य भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त है। यथा– 'सत्यंवदधर्मं चर''[8] .... ।

भगवद्गीता के ''स्वधर्मेनिधनं श्रेयः''[9] में भी धर्म का यही तात्पर्य है। मनुस्मृति के अनुसार मुनियों के द्वारा मनु से सभी वर्णों के धर्मों की शिक्षा देने के लिये प्रार्थना की गयी है।[10]

मनुस्मृति के टीकाकार मेघातिथि के अनुसार स्मृतिकारों ने वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म तथा गुणधर्म इन पाँच अर्थों में धर्म का तात्पर्य माना है। तंत्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्रों का कार्य वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों की व्याख्या करना है।

''सर्वधर्मसूत्राणां वर्णाश्रमधर्मोपदेशित्वात्''

पूर्वमीमांसाकार जैमिनी ने वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुकरण को ही धर्म माना है– ''चोदनालक्षणोर्थोधर्मः''[12] महाभारत में 'अहिंसापरमोधर्मः''[13] तथा 'आनृशंस्यं परोधर्मः'[14] कहकर धर्म के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या की गयी है। मनुस्मृतिकार ने 'आचारः परमो धर्मः'15 कहा है। हारीत ने धर्म को 'श्रुतिप्रमाणकोधर्मः'[16] कहकर धर्म को श्रुति प्रमाणक माना है। (इस प्रकार हमारे प्राचीन साहित्य धर्म के सद् एवं वास्तविक स्वरूप को ही स्पष्ट करते हैं जबकि आज के मनुष्य केवल धार्मिक (ईश्वर संबंधी) अनुष्ठान या कर्मकाण्ड मात्र को धर्म की संज्ञा देते हुये धर्म को अवैज्ञानिक एवं निरर्थक मानते हैं। वे भौतिक अभिलाषाओं की पूर्ति हेतु धर्मविरूद्ध आचरण करने में रञ्चमात्र भी संकोच नहीं करते हैं।)

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वेद ही धर्म का मूल है।[17] जो धर्मज्ञ हैं, जो वेदों का ज्ञान रखते हैं; उन्हें ही धर्म का प्रमाण माना जाता है; ऐसा आप स्तम्बधर्मसूत्र का भी कथन है।[18] वेद ही धर्ममूल हैं'; ऐसा ही कथन वशिष्ठ धर्मसूत्र में भी सुप्राप्य है।[19] मनुस्मृति का भी कथन है कि सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुजनों के आचरण एवं आत्मा की तुष्टि ही धर्म के उपादान हैं।[20] याज्ञवल्क्यस्मृति भी धर्म के वेदमूलक होने की पुष्टि करती हैं।[21] उपर्युक्त प्रमाणों से हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि वेद, स्मृतियाँ साधुजनों, एवं परम्परा से प्रवहमान सदाचार ही धर्म के उपादान हैं।

अब हमारे समक्ष सहज ही यह प्रश्न उठता है कि वे कौन से गुण हैं जिन्हें हम धर्म की संज्ञा से अभिहित करते हैं। उन गुणों को प्रकाशित करते हुये 'मनुस्मृति' में कहा गया है–

''धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशंक धर्म लक्षणम्''[22]

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम (मन का संयम) अस्तेय (चोरीन करते हुये ईमानदारी पूर्ण जीवन), शौच (बहिरंग व अंतरंग की पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (विषयों के प्रति इन्द्रियों को जाने से रोकना), धी (विवेक–बुद्धि), विद्या (आत्मज्ञान, सत्कर्मों में प्रवृत्ति हेतु ज्ञान), सत्य (मन, वचन, कर्म से व्यक्ति का शुद्ध होते हुये सत्य आचरण), अक्रोध (आत्मनियंत्रण) ये दस लक्षण धर्म के बताये गये हैं। ये वही सद्गुण हैं जो समाज और राष्ट्र के सर्वाङ्गीण विकास, सुख–समृद्धि व आनन्द के लिये आवश्यक हैं। जो मनुष्य इन सद्गुणों को धारण किये है अर्थात् अपनाये हुये हैं, आत्मसात् किए हुए हैं, वे ही सच्चे अर्थों में धार्मिक हैं। ऐसे धार्मिक व्यक्ति सच्चाई और ईमानदारी से कभी विमुख नहीं होते। वे कभी भी हिंसा, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, बेईमानी, झूठ आदि बुरे कर्मों में लिप्त नहीं होते। वे व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह अत्यंत मनायोग व ईमानदारी के साथ करते हैं। वे सदैव धर्म का आचरण करते हैं।

सत्य धर्म का मूल या प्राण है। धार्मिक व्यक्ति सत्य की राह पर चलते हुये परेशान हो सकता है किन्तु परास्त नहीं। मुण्डकोपनिषद् में कहा भी गया है– ''सत्यमेव जयते नानृतम्''23 सत्य को धर्म का स्वरूप मानते हुये ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है– ''सत्यधर्मायदृष्टये''24 अर्थात् ऋषियों के द्वारा सत्य को ही धर्म के रूप में देखा गया है। वाल्मीकीय रामायण, में भी कहा गया है कि सत्य धर्म की प्रतिष्ठा है।25 सत्य के बिना धर्म का कोई मूल्य नहीं है। इसी कारण महाभारत के आदि पर्व में भी कहा गया है– 'सत्यानास्तिपरोधर्मः'26 अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई धर्म, नीति, तप और बल नहीं है।

अब हमारे सम्मुख यह प्रश्न होता है कि सत्य को ही इतना अधिक महत्त्व क्यों प्राप्त है? इसका कारण यह है कि जो 'सत्य' जैसे सद्‌गुण को अपने जीवन में धारण करता है, उसके अन्दर उपरोक्त शेष सभी 09 सद्‌गुण स्वतः ही आ जाते हैं। सत्य में इतनी शक्ति है कि वह क्षमा, प्रेम, करूणा, अक्रोध आदि को स्वतः आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार सत्य की श्रेष्ठता और पूर्णता के कारण सत्य को ईश्वर कहा गया है। सत्य के विषय में कहा गया है कि जो सत्य है वही कल्याणकारी है और जो कल्याणकारी है वही सुंदर है– ''सत्यं शिवं सुंदरम्''

विपरीत परिस्थितियों में मनुष्य का धर्म अर्थात् सत्य ही उसकी रक्षा करता है। इसीलिए श्रुति कहती है– ''धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः''[27] अर्थात् जो धर्म का नाश करेगा धर्म उसका नाश करेगा। जो धर्म की रक्षा करेगा धर्म उसकी रक्षा करेगा।

आज का आधुनिक मनुष्य सत्य अर्थात् धर्म से अत्यंत दूर होता जा रहा है। धर्म के नाश की ओर उन्मुख हो गया है। यहाँ धर्म के नाश का अर्थ धर्म की उपेक्षा करना तथा धर्म की रक्षा का अर्थ है धर्माचरण करना अर्थात् समस्त दस गुणों को धारण करके धर्मयुक्त (सत्ययुक्त) जीवन जीना। धर्मयुक्त जीवन व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व संस्कृति के सर्वाङ्गीण उन्नति का कारण है। मनुस्मृति में कहा गया है,– ''परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ''[28] अर्थात् मनुष्य को ऐसे अर्थ (धन) और काम (इच्छा) को छोड़ देना चाहिए जोकि धर्म से रहित हो। धर्म का अर्थ श्रेयस्कर अर्थात् मंगलजनक होता है, जिससे अभ्युदय साधा जाता है। कणांद मुनि के वैशेषिक सूत्र में कहा गया है कि ''यतोभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः''[29] अर्थात् धर्म वह पदार्थ है जिससे सांसारिक जीवन में अभ्युदय और जीवन के परमलक्ष्य कल्याण की प्राप्ति दोनों की सिद्धि होती है। श्रीमद्‌भगवतगीता में तो धर्म की विशद व्याख्या मिलती है। राग–द्वेष से मुक्त होकर स्वधर्मपालन, शास्त्रविधि से नियत कर्म करना, अनासक्त व निष्काम भाव से कर्म करना, पाप–पुण्य दोनों के प्रति आसक्ति का त्यागकर कर्तव्यपालन करने को ही धर्म कहा गया है।

रामचरितमानस में कहा गया है– ''पर हित सरिस धरम नहीं भाई''[30] अर्थात् परोपकार के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है। भागवत पुराण में विद्या, दान, तप और सत्य धर्म के चार चरण कहे गये हैं। इस प्रकार विविध धर्मग्रंथों में धर्म को स्पष्ट करते हुये इसे जीवन में धारण करने पर बल दिया गया है। वस्तुतः धर्म वही है जो मनुष्य को संयमी, संवेदनशील और श्रेष्ठ बनाए और जो उसे असंयमी, संवेदनहीन और भोगवादी बनाए वहीं अधर्म है। अर्थात् हम सरल भाषा में कह सकते हैं कि मनुष्य की भाव–संवेदना का विकास ही धर्म है। धर्म हमें कर्त्तव्य की प्रेरणा देता है तथा फल के प्रति तटस्थ रहकर कर्त्तव्य करने की प्रेरणा देता है।

नैतिकता धर्म का प्रथम अंग है। अर्थात् धर्म नैतिकता पर आधारित एक ऐसा अनुशासन है जो व्यक्ति की चेतना में संवेदना को जन्म देकर उसे अंकुरित और पोषित होने के लिए समुचित वातावरण प्रदान करता है। सच्चा धर्म वही है जो मनुष्य को अनुशासन में बाँधता है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व को समृद्ध व सुदृढ़ तब तक नहीं बना सकता, जबतक वह नियमबद्ध, अनुशासित व संयमित जीवन न जिये। उसे उक्त गुणों से पूर्ण केवल धर्म ही कर सकता है। संभवतः इसीलिए ऋषियों ने 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' का उपदेश किया है। अर्थात् धर्मपालन में प्रमाद या असावधानी नहीं होनी चाहिए। वर्तमान आधुनिक समाज में जो शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक कष्ट, दुर्बलताएँ, अशांति व पारस्परिक विद्वेष दिखाई दे रहा है, वह नियमबद्ध, अनुशासित व संयमित जीवन न जीने के कारण ही है।

आस्तिकता धर्म का दूसरा अंग है। सरल शब्दों में स्वयं पर विश्वा करना ही आस्तिकता है। जो स्वयं पर विश्वास नहीं कर सकता, वह कभी प्रगति नहीं कर सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिकता भी धर्म का तीसरा अंग है। आध्यात्म के बिना तो धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जो अज्ञानजनित जीव को ज्ञानपूर्ण व देवमानव बनाकर उसे सही दिशा देने का कार्य करता है। मनुष्य जब सत्य, प्रेम, करूणा व भाव–संवेदना से परिपूर्ण हो जाता है तब वह आध्यात्मिक कहलाने लगता है। वस्तुतः यही आध्यात्मिकता ही धार्मिकता है।

अतः हम संक्षेप में कह सकते हैं कि धर्म नैतिकता, आध्यात्मिकता और आस्तिकता का समुच्चय है। आज के मानव को अपने प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा एवं उनके व्यवहरणीय सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुये अपने भीतर उपरोक्त धर्म के तीनों अंगों को ग्रहण करते हुये अपने अर्थों में धार्मिक बनें। आज प्रत्येक व्यक्ति को धर्म के आचरण द्वारा अपनी तथा समाज की दिशा एवं दशा को सुधारना होगा। वास्तविक धर्म का पालन करना होगा ताकि आत्मिक उन्नति करते हुये मनुष्य अपना, समाज एवं राष्ट्र का अभ्युत्थान कर सके।

संदर्भग्रन्थ सूची–

1. ऋग्वेद 1.22.18
2. महाभारत शांतिपर्व० 16
3. श्रीमद्भगवद्गीता, 18.33
4. ऋग्वेद 1.187.1
5. ऋग्वेद. 10.92.2
6. ऋग्वेद 10.21.3
7. अथर्ववेद 9.1.17
8. तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथम वल्ली .11वाँ अनुवाक
9. श्रीमद्भावद्गीता (3.35)
10. मनुस्मृति अध्याय.2.
11. तंत्रवातिक पृष्ठ237
12. पूर्वमीमांसा 1.1.2
13. महाभारत अनुशासनपर्व115.1
14. महाभारत वनपर्व373.76
15. मनुस्मृति 1.108
16. कुल्लूक द्वारा मुनस्मृतिकीटीका 2.1 में उद्धृत
17. वेदो धर्ममूलं। तद्विदां च स्मृतिशीले। (गौतम धर्मसूत्र 1.1.2)
18. धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। (आपस्तम्बधर्मसूत्र 1.1.1.2)
19. श्रुति स्मृति विहितोधर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टःपुनरकामात्मा, वशिष्ठधर्मसूत्र (1.4.6)
20. वेदोखिलोधर्ममूलं स्मृतिशीलेव तद्विदाम्। आचारश्चैव साधुनामात्मनस्तुष्टिरेव च (मनुस्मृति 2.6)
21. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामौ धर्ममूलमिदं स्मृतम्। (याज्ञवल्क्यस्मृति 1.7)
22. मनुस्मृति 6.92
23. मुण्डकोपनिषद् 1.3.6
24. ईशावास्योपनिषद्
25. रामायण (ओध्याकाण्ड), 14.7
26. महाभारत (आदि पर्व) 210/127
27. महाभारत (वन पर्व, 313/128)
28. मनुस्मृति 4.176
29. वैशेषिक सूत्र 1.1.2
30. रामचरितमानस– उत्तरकाण्ड

Cite this Article-

'डॉ0 वन्दना', 'वर्तमान में आचरणीय धर्म का वास्तविक स्वरूप', Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal (RVIMJ), ISSN: 3048-7331 (Online), Volume:2, Issue:05, May 2025.

Journal URL- https://www.researchvidyapith.com/
DOI- 10.70650/rvimj.2025v2i5005
Published Date- 05 May 2025